शिक्षा का प्रयोजन

❑ रोहित धनकर

प्रस्तुत लेख में छः सरकारी दस्तावेजों का समीक्षात्मक आकलन करके उनमें वर्णित शिक्षा के प्रयोजन और शिक्षाक्रम की रूपरेखा को समझने का प्रयास किया गया है । इन दस्तावेजों को एक साथ देखने से एक दिलचस्प नतीजा निकलता है कि पिछले लगभग 30 वर्षों में शिक्षा नीति संबंधी दस्तावेजों में निरूपित उद्देश्य उत्तरोत्तर उदार होते गये हैं । दूसरी बात, लगभग समान शब्दावली का उपयोग करने के बावजूद इन दस्तावेजों में शिक्षा के व्यापक उद्देश्य भिन्न-भिन्न हैं । शिक्षा के आदर्श भिन्न-भिन्न हैं । दस्तावेजों में राष्ट्रीय विकास और व्यक्ति के विकास का संबंध व्यक्त है लेकिन ये प्रश्न अनुत्तरित हैं : राष्ट्रीय लक्ष्य कौन व कैसे निर्धारित करता है ? राष्ट्रीय विकास का अर्थ क्या है ? व्यक्ति का विकास क्या होता है ? राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति का व्यक्ति के विकास से क्या संबंध है ? आदि ।

पिछले कुछ वर्षों से प्राथमिक शिक्षा को लेकर देश में काफी सरगरमी बढ़ रही है । बजट में शिक्षा पर खर्च की जाने वाली राशि के बढ़ाने के वादे हुए हैं, शायद कुछ बढ़ी भी है । बड़ी बड़ी राशियां विदेशी सहायता और ऋण के रूप में उपलब्ध हुई हैं । इस प्रकार उपलब्ध धन से कोई आधा दर्जन विशाल कार्यक्रम प्राथमिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण एवं उसकी गुणवत्ता में सुधार के लिए चल रहे हैं । इनमें से जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम के फैलाव को तो सर्वग्रासी भी कहा जा सकता है । सर्वग्रासी इसलिए कि जहां-जहां यह कार्यक्रम पहुंचता है, पूरी प्राथमिक शिक्षा को अपने ही रंग में रंग लेता है । अन्य कुछ किये जाने की कोई गुंजाइश नहीं बचती, न ही इसके संचालकों को कुछ भी अन्य किये जाने की आवश्यकता महसूस होती है ।

देश के सभी राजकीय शिक्षण संस्थान - राष्ट्रीय से लेकर जिला स्तर तक के-किसी ना किसी प्रकार से या तो इन कार्यक्रमों के साथ जुड़ चुके हैं या फिर जुड़ने की तैयारी कर रहे हैं । सभी कह रहे हैं कि काम बहुत बड़ा है । शिक्षाक्रम को नये सिरे से देखना है, नई पाठ्य-पुस्तकें लिखनी हैं, नई शिक्षण-विधियां ईजाद एवं स्थापित करनी हैं, विद्यालय का एक नया स्वरूप गढ़ना है । और फिर इन सब का लोकव्यापीकरण करना है । अत: बड़ी संख्या में शिक्षक प्रशिक्षण करने हैं । अनेक प्रकार के औपचारिकेतर कार्यक्रमों की रूपरेखा बनानी है, उन्हें लागू करना है । देश के शीर्षस्थ समझे जाने वाले शिक्षाविद् इन कार्यक्रमों में परामर्शद् एवं विभिन्न समितियों के मानद सदस्यों के रूप में जुड़े हैं । उससे निचले स्तर के शिक्षाविद् राष्ट्रीय स्तर की कार्यशालाओं में संदर्भ-व्यक्ति या गोष्ठियों में सहभागियों के रूप में योगदान करते हैं । यह सिलसिला बच्चों को कागज की नाव बनाना सिखा सकने वाले 'नवाचारी शिक्षक' और शिक्षा का ''शि'' ठीक तरह लिख पाने वाले शिक्षाविद् तक जारी है। वे सभी कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में या तो योगदान कर रहे हैं या फिर योगदान की तैयारी में हैं । फिर भी और लोगों की आवश्यकता है ।

यह सब प्राथमिक शिक्षा एवं देश के बच्चों के लिए शुभ संकेत माना जाना चाहिए । समाज के जिन तबकों के बच्चे एक अरसे से प्राथमिक शिक्षा से वंचित हैं उन्हें अब अपने आप को शिक्षित करने का अवसर उपलब्ध होगा । और इस बड़े काम को करने के लिए सारा शिक्षा जगत कमर कस के उठ खड़ा हुआ है। इससे अच्छी खबर और क्या हो सकती है ? पर जिस तरह से यह सरगर्मी चल रही है और जिस दिशा में ये कार्यक्रम बढ़ रहे हैं, उससे बहुत लोगों को आश्वस्ति के बजाय चिंता होती है । क्योंकि उन्हें कुछ समस्यायें साफ दीखती हैं ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इन कार्यक्रमों का मुख्य उद्देश्य प्राथमिक शिक्षा का लोकव्यापीकरण और प्राथमिक शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार करना है । लोकव्यापीकरण के लिए शिक्षा व्यवस्था का विकेन्द्रीकरण और जन-सहभागिता को मंत्रों के रूप में काम में लिया जा रहा है । इसी तरह गुणवत्ता में सुधार के मंत्र हैं: बाल केन्द्रित शिक्षा, आनन्ददायी शिक्षा, बच्चों की रुचि के अनुसार शिक्षा, स्थानीय जरूरतों के अनुसार शिक्षा, खेल-खेल में शिक्षा,दक्षता आधारित शिक्षण आदि आदि । इन मंत्रों का अर्थ कोई गाहे-बगाहे ही पूछता है । सामान्यतया तो ये मंत्र अपना अर्थ स्वयं प्रकाशित करने वाले माने जाते हैं । फिर भी कोई इन में से किसी एक का मतलब जानने के लिए प्रश्न कर ही दे तो उनको उत्तर के रूप में दूसरा मंत्र दे दिया जाता है। उदाहरणार्थ : बाल-केन्द्रित शिक्षण का अर्थ खेल-खेल में शिक्षण । और खेल-खेल

में शिक्षण कैसे होता है ? बाल केन्द्रित शिक्षण होने से । इनकी गंभीर एवं स्पष्ट विवेचना के लिए न तो समय है, न ही उसकी आवश्यकता किसी को महसूस होती है । ये नये शिक्षा-शास्त्र के स्वयंसिद्ध सत्य हैं । पाठ्य-पुस्तकों से लेकर शिक्षण-विधा एवं विद्यालय का स्वरूप सभी कुछ इनके अनुसार बनाना है । फिर भी, बार-बार के शिक्षक-प्रशिक्षणों के बावजूद, विद्यालयों में बच्चे उतने ही डरे-सहमे एवं ऊबे हुए हैं जितने इन कार्यक्रमों के चलने से पहले थे। पर इसमें अनहोनी क्या है ? हम सभी जानते हैं मंत्र तो जपने के लिए होते हैं । बाहरी परिस्थितियों पर तो उनका प्रभाव दिव्य-दृष्टि रखने वाले ही पहचान पाते हैं ।

यह मंत्रों या स्वयं-सिद्ध सत्यों के आधार पर खड़ा प्रभावहीन शिक्षाशास्त्र इन कार्यक्रमों की एक बड़ी समस्या है ।[1] इस समस्या को ठीक से पहचानने एवं इसका हल ढूंढने के लिए एक साधारण-सा सवाल पूरी गंभीरता से पूछना पड़ेगा जो भारतीय शिक्षा-जगत में आज कहीं नहीं पूछा जा रहा है । वह साधारण सा सवाल है : हमें शिक्षा की आवश्यकता क्यों है ? क्यों हम इस बात के पीछे पड़े हैं कि भारत के प्रत्येक बच्चे[2] को प्राथमिक शिक्षा मिले ही ? बात केवल यह नहीं है कि उपरोक्त कार्यक्रमों में यह प्रश्न कहीं नहीं पूछा जा रहा । इन कार्यक्रमों में इस प्रश्न का न पूछा जाना तो इसके प्रति हमारी सामान्य राष्ट्रीय उदासीनता का एक और प्रमाण भर है । यह प्रश्न हमारे शिक्षा चिंतन में ही उपेक्षित है । हम आगे देखेंगे कि जहां प्रश्न उठाया जाता है वहां भी इसका निपटारा संक्षेप में सतही तौर पर करके तुरंत आगे बढ़ जाना ही मुख्य ध्येय होता है । मुझे नहीं पता वर्तमान शैक्षिक-विमर्श में इस प्रश्न के प्रति उपेक्षा भाव एक सुविचारित भंगिमा है या मात्र उदासीनता । पर यदि यह एक सुविचारित भंगिमा है तो तीन बातों में से कम से कम एक सही होनी चाहिये : (क) शिक्षा के आयोजन में इस प्रश्न का कोई महत्त्व नहीं है । अत: यह अनावश्यक प्रश्न है । (ख) शिक्षा-कर्म में लगे सभी लोगों के पास इस प्रश्न का कोई समुचित उत्तर है तथा उस उत्तर पर पर्याप्त सहमति है। (ग) इस प्रश्न का कोई स्पष्ट एवं सर्वमान्य उत्तर संभव नहीं है, अत: इस पर समय लगाने में कोई लाभ नहीं है । मैं समझता हूं कि ये तीनों ही बातें ठीक नहीं हैं, अत: इस प्रश्न पर गंभीरता पूर्वक विचार करना आवश्यक है । पर आगे बढ़ने से पहले यह स्पष्ट करना जरूरी है कि इन तीनों बातों को सही क्यों नहीं माना जा सकता ।

यह तो सभी मानते हैं कि सरल से सरल मानवीय कर्म का भी कोई ना कोई प्रयोजन होता है । बल्कि अधिकतर पाया यह जाता है कि मानवीय कर्मों के एक से अधिक प्रयोजन होते हैं । यह भी हम जानते हैं कि वह प्रयोजन उस कर्म के करने के तरीके को प्रभावित करता है । कर्म की दिशा को प्रभावित करता है । उदाहरण के लिए हम खाना खाने, व्यायाम करने तथा पुस्तक लिखने जैसे कर्मों को ले सकते हैं । खाना खाना एक निहायत ही आवश्यक कर्म है और जीवित रहना इसका असंदिग्ध प्रयोजन है । पर खाने के आनन्द लेने में दूसरों को अपनी सुरुचि या पसंद बताने तक कई अन्य प्रयोजन इसके साथ जुड जाते हैं । कई बार तो मुख्य प्रयोजन लगभग भुला दिया जाता है । (हालांकि यह तभी होता है जब उसका पूरा होना सुनिश्चित हो और खाना बहुतायत में उपलब्ध हो ।) ये सभी प्रयोजन और उप प्रयोजन मिल कर हम क्या खायें ? कितना खायें? कैसे खायें ? आदि को प्रभावित करते हैं । परिणाम स्वरूप नये-नये व्यंजन, उनकी सजावट और उन्हें खाने के उपकरणों का विकास होता है । यही बात व्यायाम करने पर भी लागू होती है । हम व्यायाम शरीर को स्वस्थ रखने के लिए करते हैं तो एक तरह से करते हैं । शरीर का सौंदर्य बढ़ाने के लिए करते हैं तो दूसरी तरह से करते हैं और लड़ाई की तैयारी के लिए करते हैं तो तीसरी तरह से करते हैं ।

ये अपेक्षाकृत सरल मानवीय कर्म है । सरल इस अर्थ में कि इनका लेना देना मुख्य रूप से एक व्यक्ति से होता है और प्रयोजन भी उसी के होते हैं । शिक्षा के आयोजन को यदि हम एक कर्म के रूप में देखें तो वह इन से कई गुणा जटिल कर्म है । भारत जैसे देश में इसका सीधा प्रभाव करोड़ों बच्चों के जीवन पर पड़ता है । इसमें लाखों लोग अपना योगदान करते हैं। पूरा समाज इसके लिए साधन जुटाता है। यह सब हम क्यों कर रहे हैं ? इससे क्या हासिल करना चाहते हैं ? आदि प्रश्नों पर कोई ना कोई विचार हम सभी रखते हैं। क्योंकि ये विचार हमारे काम करने के तरीके को प्रभावित करते हैं और यह काम प्रकृति से ही सांझा है, अत: उन विचारों, प्रयोजनों को साफ तौर पर अभिव्यक्त करना एवं कोई न्यूनतम सहमति बनाना आवश्यक है। यदि हम खुले रूप में ऐसा नहीं करते हैं तो किसी प्रभावशाली समूह का प्रयोजन पूरे प्रयास को एक खास दिशा में ले जाता है। इस प्रयास के परिणामों को प्रभावित करता है। इस प्रकार शिक्षा का उपयोग समाज व राष्ट्र पर वर्चस्व बनाने व उसे कायम रखने के लिये किया जा सकता है । या फिर सबकी विभिन्न दिशाओं में खींचातानी के कारण घोर भ्रम की स्थिति उत्पन्न होती है, जिसमें सभी कदम ताल कर रहे होते हैं और कहीं नहीं पहुंचते। समाज अंत में वहीं रहता है जहां से चलने का नाटक आरंभ किया था । और यह भी किसी का प्रयोजन हो सकता है ।

ये एक प्रकार की समस्याओं की तरफ कुछ अति संक्षिप्त संकेत हैं । ये समस्यायें मूलत: काम की सफलता एवं प्रजातांत्रिक व्यवस्थाओं की रक्षा से संबंधित है । यहां शिक्षा के प्रयोजन पर स्पष्ट विचार न करने एवं उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति न करने से उत्पन्न होने वाली कुछ दूसरी प्रकार की समस्याओं की तरफ संकेत करना

भी समीचीन होगा । विद्यालयों में शिक्षा देने के लिए यह तय करना आवश्यक है कि क्या पढ़ाया जाये । अर्थात शिक्षाक्रम में किन चीजों को स्थान दिया जाये । बच्चों को सिखाने लायक ज्ञान, जानकारी, मूल्य और दक्षताओं का अकूत खजाना है आज मानव के पास । पर बच्चे की सीखने की क्षमता एवं कालावधि सीमित है । अत: चुनाव करना पड़ता है । यह शिक्षाक्रम बनाने का सवाल है । शिक्षाक्रम में किस चीज को स्थान दिया जाये और किस चीज को बाहर रखा जाये ? यह एक महत्वपूर्ण निर्णय है जिसके दूरगामी व महत्वपूर्ण परिणाम होते हैं । अत: निसंदेह यह तय करने के लिये कई आधार होंगे पर इन कई आधारों में से एक महत्वपूर्ण आधार निश्चित तौर पर शिक्षा के प्रयोजन को मानना पड़ेगा । कुछ लोगों का विचार है कि शिक्षा का प्रयोजन सर्वाधिक महत्वपूर्ण आधार होगा। अन्य आधारों के समुचित उपयोग के लिए भी शिक्षा का प्रयोजन जानना आवश्यक होगा । जो लोग शिक्षा के प्रयोजन की बात किये बिना ही शिक्षाक्रम का निर्धारण करना चाहते हैं वे भी किसी ना किसी प्रयोजन को मान कर चलते हैं। फर्क सिर्फ यह है कि वे उस प्रयोजन की स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं करते । बस उसे मान लेते हैं तथा एक मापदण्ड के रूप में उसका चुपचाप उपयोग करते हैं । इससे उन्हें अपने प्रयोजन का औचित्य सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, बस दूसरों से अविवेचित स्वीकारोक्ति की अपेक्षा रहती है । ऐसी स्थिति में शिक्षाक्रम के निर्धारण के आधार के रूप में बस मनोविज्ञान भर रह जाता है । शिक्षाक्रम के अन्य आधार ऐतिहासिक, सामाजिक आवश्यकता, बच्चे की जरूरतें आदि सभी शिक्षा के प्रयोजन को पूर्व मान्यता के रूप में लेकर ही आगे बढ़ सकते हैं। ''मनोविज्ञान या शिक्षाशास्त्र हमें यह नहीं बता सकते कि क्या पढ़ाना चाहिये । केवल यह बता सकते हैं कि (चुनाव के बाद) कब और कैसे पढ़ाना चाहिए ।''[3] परिणाम यह होता है कि शिक्षाक्रम को विभिन्न लोग अपने धन और सत्ता सामर्थ्य के बल पर तोड़ने-मरोड़ने लगते है । और एक दिशा भ्रम की स्थिति उत्पन्न होती है जिस में से निकलने की कोई राह दिखाई नही देती क्योंकि एक मात्र सुनिश्चित राह शिक्षा के प्रयोजन पर स्पष्ट विचार करना है जिसे हम पहले ही नकार चुके होते हैं ।

शिक्षाक्रम में किस चीज को स्थान दिया जाये और किस चीज को बाहर रखा जाये ? यह एक महत्वपूर्ण निर्णय है जिसके दूरगामी व महत्वपूर्ण परिणाम होते हैं । अत: निसंदेह यह तय करने के लिये कई आधार होंगे पर इन कई आधारों में से एक महत्वपूर्ण आधार निश्चित तौर पर शिक्षा के प्रयोजन को मानना पड़ेगा ।

कहने का तात्पर्य यह है कि शिक्षा के काम को दिशा देने के लिए, उसे सुचारू रूप से करने के लिए और इस में व्यापक सहभागिता प्राप्त करने के लिए इस के प्रयोजन पर गंभीर एवं व्यापक विचार-विमर्श जरूरी है । अर्थात शिक्षाशास्त्र का पुराना और कुख्यात प्रश्न 'शिक्षा का उद्देश्य क्या है ?' कितना भी अप्रिय एवं दुरुह क्यों न लगे, इस पर सतत् विचार आवश्यक है । भिन्न-भिन्न देश-काल, समाज में हम इसके भिन्न-भिन्न उत्तर तो दे सकते हैं । पर इससे छुटकारा या इसकी अनदेखी करना संभव नहीं है, बल्कि कहा जा सकता है कि इस प्रश्न पर सतत् चिंतन नहीं है । इस प्रश्न पर सतत् चिंतन की आवश्यकता ही इसलिए है कि इसके उत्तर (कम से कम सतही तौर पर) देश-काल के अनुसार बदलते रहते हैं । अत: शिक्षा की हर नई योजना के आरंभ में यह प्रश्न स्वत: उठ खड़ा होता है । सही कदम इसे अनदेखा करना नही, इसके समयानुकूल उत्तर तलाशते रहना होगा ।

दूसरी बात यह हो सकती है कि शिक्षा के काम से जुड़े सभी लोग शिक्षा के उद्देश्यों को लेकर एकदम स्पष्ट हैं तथा इस मुद्दे पर यथेष्ट सहमति भी है। इस मान्यता की सविस्तार एवं गहन जांच तो बहुत स्थान एवं समय की मांग करेगी, अत: यहां इसे एक खास पक्ष से ही देखेंगे । जैसाकि पहले कहा गया है कि आजकल प्राथमिक शिक्षा को सर्वाधिक प्रभावित देश में चल रहे कुछ बड़े कार्यक्रम करते हैं । इन कार्यक्रमों में विभिन्न स्तरों पर शिक्षाक्रम, शिक्षण-विधियों, शिक्षण-सामग्री एवं शिक्षक-प्रशिक्षणों पर निर्णय लिये जाते हैं । जिन बैठकों में, कार्यशाला और गोष्ठियों में ये निर्णय लिये (अधिकतर सुनाये) जाते हैं उनमें वर्चस्व शिक्षाविदों या अकादमिक लोगों का नहीं होता । नौकरशाहों और शिक्षातंत्र में कार्यरत अधिकारियों का होता है । इन सभी बैठकों और गोष्ठियों

---

1. यहां हमारी रुचि केवल शैक्षणिक समस्याओं में है। इन कार्यक्रमों की आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक समस्यायें और भी हैं । पर वह अलग समर्थ लोगों द्वारा विवेचना का विषय है ।
2. इस पूरे लेख में ''बच्चा'' और उससे व्युत्पन्न शब्दों का प्रयोग लिंग निरपेक्ष शब्द के रूप में समझना चाहिए । यह बालक-बालिका दोनों के लिए है । अत: इस शब्द के कारण लेख में लिंग-भेद खोजने की आवश्यकता नहीं है ।
3. कृष्णकुमार, व्हाट इज वर्थ टीचींग ? ओरियन्ट लोंगमेन लिमिटेड; 1992

में शिक्षा के उद्देश्यों पर बात करना वर्जित है । ये ठीक है कि प्रत्येक बैठक और कार्यशाला में शिक्षा के उद्देश्यों पर बहस आरंभ नहीं की जा सकती, न ही करनी चाहिये । पर कार्यक्रम के आरंभ में उसकी अवधारणा विकसित करते समय, उसकी योजना बनाते समय कहीं कोई तो मंच हो जहां इस आधारभूत प्रश्न पर विचार किया जा सके। जहां तक मेरी जानकारी है ऐसा कहीं नहीं होता । यदि कोई सिरफिरा व्यक्ति इस सवाल को उठा ही दे तो या तो विशेष रूप से इसी विषय पर एक गोष्ठी करने का वादा/निर्णय किया जाता है या फिर कुछ दस्तावेजों का हवाला दिया जाता है जिन में शिक्षा के उद्देश्यों की समीचीन व्याख्या एवं अभिव्यक्ति होने का दावा किया जाता है । ये दस्तावेज या तो विभिन्न शिक्षाक्रम दस्तावेज होते हैं या शिक्षा पर कमेटियों/कमीशनों की रिपोर्ट । कभी भी किसी पुस्तक का हवाला नहीं दिया जाता । अत: हम अपनी जांच में कुछ शिक्षाक्रम संबंधी दस्तावेजों और रिपोर्टों में वर्णित शिक्षा के उद्देश्यों पर विचार करेंगे।

पिछले पांच वर्षों से पूरे देश में दक्षता आधारित पाठ्यक्रम, दक्षता आधारित पाठ्यपुस्तकों एवं दक्षता आधारित शिक्षण का बोलबाला है । यह बोलबाला ''प्राथमिक स्तर पर न्यूनतम अधिगम स्तर''[4] नामक दस्तावेज का एक मुहिम के तौर पर प्रचार करके पैदा किया गया है। आज स्थिति यह है कि शैक्षिक विमर्श में अवधारणा, सिद्धांत, समझ, प्रवृत्ति, मूल्य, ज्ञान आदि शब्दों का उपयोग लगभग समाप्त हो गया है और इन सब के लिए एक शब्द 'दक्षता' को यथेष्ट समझा जा रहा है । यह देखना समीचीन होगा कि यह बहु-प्रचारित एवं प्रभावशाली दस्तावेज किन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए न्यूनतम अधिगम स्तरों की अनुशंसा करता है ।

रिपोर्ट की भूमिका में ही कहा गया है : ''यह रिपोर्ट एक ऐसी पाठ्यचर्या की प्रस्तुति के प्रयास के रूप में देखी जा सकती है जो प्राथमिक शिक्षा पूरी करने वाले सभी बच्चों को उन न्यूनतम/अनिवार्य अधिगम प्रतिफलों से सज्जित करते हैं जो उनको अपने पर्यावरण को पहचानने में और समाजोपयोगी तथा अंशदायी वयस्क बनने में सहायता करते हैं ।''[5] अंग्रेजी संस्करण में पर्यावरण को पहचानने के लिए ''अंडरस्टेंड दीयर एनवायर्मेंट'' तथा अंशदायी वयस्क के लिए ''कन्ट्रीव्यूटिंग एडल्ट'' है ।

कथित 'असंज्ञानात्मक पहलुओं पर विचार' करते समय समिति ने निश्चय किया कि ''भावनात्मक क्षेत्र में भी केवल उस दिशा की ओर संकेत किया जाये जिसके अनुसार शैक्षिक कार्यक्रमों के पुनर्गठन की इसलिए आवश्यकता है कि उसका संबंध बच्चों के उन गुणों का विकास करने से है जो उनके व्यक्तिगत और सामाजिक विकास और साथ ही राष्ट्रीय विकास के लिए आवश्यक हैं।[6]''

रिपोर्टों के अध्याय दो में इसका दर्शन (जैसा भी वह है) दिया गया है । इस अध्याय का अनुच्छेद 2.3 शिक्षा के उद्देश्यों के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है । अत: उद्धरण के रूप में लम्बा होने के बावजूद इसे पूरा ही दे रहे हैं : ''प्राय: यह देखा गया है कि अधिकांश सरकारी और नगरपालिका विद्यालयों में बच्चे पांच वर्ष व्यतीत करने के बाद भी, अपनी पाठ्यपुस्तकों को कठिनाई से पढ़ पाते हैं। यह एक आधारभूत तथ्य है । यह देखते हुए कि इनमें से बहुत से बच्चों को प्राथमिक स्तर से अधिक शिक्षा नहीं मिल सकेगी और जो कुछ वे यहां सीखते हैं वह उन्हें जीवनपर्यंत याद रहना चाहिए, यह अनिवार्य हो जाता है कि शिक्षा प्रणाली यह निश्चय करे कि बच्चों के विद्यालय के ये मूल्यवान वर्ष व्यर्थ न जायें; कि सभी बच्चे चाहे वे किन्ही परिस्थितियों से आये हों और किसी भी प्रकार के विद्यालय में पढ़े हों, प्राथमिक शिक्षा समाप्त करने से पहले, अधिगम के एक न्यूनतम स्तर तक पहुंच सकें, जिससे वे अंतत: अपने संसार को समझ सकें और स्थाई रूप से शिक्षित, समाज के लिए उपयोगी और लाभकारी वयस्क बन सकें ।[7]

इस अनुवाद में कई गंभीर गलतियां हैं । जीवन पर्यन्त याद रहना चाहिए, की जगह 'मस्ट सन्सटेन देम थ्रू दीयर लाइव्स' है, इसी तरह 'स्थाई रूप से शिक्षित' की जगह 'परमानेन्टली लिटरेट' है तथा 'लाभकारी वयस्क' के लिए 'कन्ट्रीव्यूटिंग एडल्टस' है । इसी तरह 'प्रिपेयर देम टू फंक्शन' के लिए 'बन सकें, अनुवाद भी ठीक नहीं है। यह सब मैं अनुवाद की गलतियां निकालने के लिए नहीं लिख रहा हूं । यहां मूल विचार क्या है ? यह पकड़ने की आवश्यकता है । अत: जहां हिन्दी व अंग्रेजी (मूल) संस्करणों में अंतर है वह चिन्हित किया ही जाना चाहिये ।

आगे अध्याय पांच में, 'पर्यावरण अध्ययन के विभिन्न अंगों' के बीच में विभाजन रेखा न खींचने एवं उसे समेकित रूप में ही देखने के पक्ष में दिया गया तर्क शिक्षा के उद्देश्यों की तरफ संकेत करता है। वह निम्न प्रकार है : ''अंतत: प्रत्येक बच्चे को, जैसे जैसे वह बड़ा होता जायेगा, एक उत्तरदायी नागरिक के रूप में व्यवहार करना होगा, परिवेशीय स्थितियों तथा उनके संरक्षण की आवश्यकता के प्रति जागरूक होना होगा और परिपक्व होने के साथ-साथ अपने सामाजिक-आर्थिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण का भी विस्तार करना

4. प्राथमिक स्तर पर न्यूनतम अधिगम स्तर, श्री आर. एस. दवे की अध्यक्षता में गठित न्यूनतम अधिगम स्तर समिति की रिपोर्ट, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली, द्वारा प्रकाशित, 1991.

5. उपरोक्त, पृष्ठ प्राक्कथन

6. उपरोक्त पृष्ठ 4

7. वही, पृष्ठ 8

होगा । जीवन के इतने विस्तृत ध्येयों की प्राप्ति के लिए ही उपरोक्त दक्षताओं में प्रवीणता शिक्षा की आरंभिक अवस्था से ही प्रारंभ करनी होगी ।[8]

अध्याय 6 में जो कि अध्ययन के तथाकथित 'असंज्ञानात्मक क्षेत्र' पर है, शिक्षा के अंतिम लक्ष्य की घोषणा इस प्रकार है : ''शिक्षा का अंतिम लक्ष्य व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास है और इसीलिए विद्यालय में प्रदान किये जाने वाले अध्ययन अनुभवों द्वारा इस लक्ष्य की संप्राप्ति में योगदान मिलना चाहिये । तदनुसार, अधिगम के अपेक्षित प्रतिफल केवल संज्ञानात्मक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रखे जा सकते; यह आवश्यक हो जाता है कि भावात्मक एवं मनोगत्या क्षेत्रों के अपेक्षित अधिगम प्रतिफलों का भी निरुपण किया जाये ।[9]

यहां सर्वांगीण विकास की बात केवल तथाकथित असंज्ञानात्मक क्षेत्र में अधिगम प्रतिफलों के निरुपण के पक्ष में तर्क के लिए की गई है । इसमें इससे अधिक कुछ भी ढूढ़ंना ठीक नहीं होगा ।

हम यहां इस रिपोर्ट की पूरी समीक्षा नहीं करना चाहते । केवल यह देखने/समझने का प्रयत्न कर रहे हैं कि यहां न्यूनतम अधिगम स्तरों का निर्धारण शिक्षा के किन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किया गया है । उपरोक्त उद्धरणों की विवेचना से यह स्पष्ट हो जायेगा कि (1) शिक्षा का अंतिम उद्देश्य 'समाज के लिए उपयोगी और लाभकारी वयस्क' बनाना है। (2) समाज के लिए उपयोगी और लाभकारी होने के लिए अपने परिवेश की जितनी आवश्यकता हो उतनी समझ तथा संविधान व राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986[10] में उल्लेखित मूल्यों के लिए प्रतिबद्धता चाहिये । अत: परिवेश की जितनी समझ व जिन मूल्यों के लिए जितनी प्रतिबद्धता 'उपयोगी व लाभकारी' बनने के लिए चाहिये उसे शिक्षाक्रम का हिस्सा बनाया जाये । तथा (3) उपरोक्त उद्देश्य (1) तथा (2) की प्राप्ति के लिए 'स्थायी रूप से साक्षर' होना आवश्यक है । अत: इसे भी शिक्षाक्रम का हिस्सा बनाया जाये । शिक्षा के उद्देश्यों को इस नजरिये से देखने के गुण-दोषों की बात आगे करेंगे। यहां इन्हें पहचान लेना, चिन्हित कर लेना ही काफी है ।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् देश में प्राथमिक शिक्षा को दिशा देने वाली प्रमुख संस्था है। ऊपर विवेचित रिपोर्ट के अलावा इस संस्था ने फरवरी 91 में ही अपने आंतरिक उपयोग (इंटरनल यूज) के लिए एक और दस्तावेज प्रकाशित किया था । इस का नाम भी 'प्राथमिक स्तर पर न्यूनतम अधिगम स्तर' (मिनिमम लेवल ऑफ लरनिंग एट द प्राइमरी स्टेज) ही है ।[11] इस दस्तावेज के लेखक श्री पी. एन. दवे (श्री आर. एच. दवे नहीं) तथा नौ और लोग हैं जो सभी रा.शै.अ.प्र.परिषद के संकायों के सदस्य हैं । एक ही संस्थान द्वारा प्रकाशित इन दोनों दस्तावेजों का तुलनात्मक अध्ययन एक रोचक एवं ज्ञानवर्द्धक काम हो सकता है। पर यहां हम केवल इन दस्तावेजों में प्रतिपादित या स्वीकृत शिक्षा के उद्देश्यों का ही अध्ययन करेंगे ।

इस दस्तावेज (इसे हम न्यूनतम अधिगम स्तर - 2, कहेंगे।) में शिक्षा के उद्देश्यों के लिए कहा गया है : ''लक्ष्य विभिन्न स्तरों पर की गई व्याख्या के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं । नीतिगत वक्तव्य कई क्षेत्रों में राष्ट्रीय विकास के व्यापक लक्ष्य/ध्येय (एम्स/गोल्स) होते हैं । ये (राष्ट्रीय लक्ष्य) आगे चलकर शिक्षा के (राष्ट्रीय लक्ष्यों के लिए प्रस्थान बिन्दु -(रेफरेन्स पाइंट्स) बन जाते हैं । (शिक्षा के) ऐसे सामान्य/विस्तृत लक्ष्यों से आरंभ कर सकते हैं जो शिक्षार्थियों के भविष्य में डाक्टर्स, इंजिनियर्स, मूर्तिकार, कलाकार, वैज्ञानिक, शिक्षक आदि के रूप में विकसित होने से संबंध रखते हों ।[12] (भावानुवाद वर्तमान लेखक द्वारा) स्पष्ट ही यहां राष्ट्रीय नीतिगत वक्तव्यों में निर्धारित किये गये लक्ष्यों की प्राप्ति में योगदान करना ही शिक्षा का मुख्य लक्ष्य है । विभिन्न क्षेत्रों में राष्ट्रीय विकास के लिए जैसे लोगों की जरुरत हो (डाक्टर्स आदि) उनको तैयार करने के लिए उपयुक्त शैक्षिक लक्ष्य ही समीचीन होंगे ।

यह माना गया है कि देश के विभिन्न भागों में चल रहे विद्यालयों के शिक्षाक्रम में स्थानीय परिस्थितियों के कारण कुछ विभिन्नतायें हो सकती हैं । पर पूरे देश के सभी विद्यालयों के शिक्षाक्रमों में एक केन्द्रक (कोर) भाग सामान्य (कामन) रूप में होना ही चाहिये । इस सामान्य केन्द्रक (कॉमन कोर) के द्वारा ऐसी जानकारी देनी चाहिए; वे अवधारणायें, दक्षतायें, अभिरुचियां, प्रवृत्तियां एवं मूल्य विकसित किये जाने चाहियें जिनकी 'भावी नागरिकों को भारतीय राष्ट्र के समक्ष उपस्थित होने वाली चुनौतियों का सामना करने के लिए आवश्यकता होगी' ।[13] अन्यत्र कहा गया है कि ये वे मूल्य होने चाहिये ''जो भारतीय संविधान में प्रतिष्ठित हैं तथा जो हमारी प्राचीन एवं समृद्ध सांस्कृतिक विरासत में पाये जाते हैं ।[14]

8. वही/पृष्ठ 61

9. वही/पृष्ठ 87

10. वही/पृष्ठ 86.

11. मिनिमम लेवल्स ऑफ लर्निंग एट द प्राइमरी स्टेज - सिलेबी इनक्यलूडिंगकॉमन कोर कम्पोनेन्ट; एनसीईआरटी, 1991.

12. वही/पृष्ठ 7-8

13. वही/पृष्ठ 2

14. वही/पृष्ठ 9.

शिक्षाक्रम के अवधारणात्मक ढांचे की प्रस्तुति के आरंभ में उल्लेखित है कि ''शिक्षा का मुख्य लक्ष्य शिक्षार्थी का समग्र विकास है (समग्र विकास माने) शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, भावनात्मक (सोशियो-इमोशनल) तथा आध्यात्मिक (स्प्रिच्यूअल) विकास है।''[15]

इस दस्तावेज के अध्ययन से शिक्षा के उद्देश्यों की जो तस्वीर उभरती है वह कुछ इस प्रकार से है (अ) प्रस्थान बिंदु सरकारी नीतियों संबंधी दस्तावेज हैं जो विभिन्न क्षेत्रों में राष्ट्रीय विकास के लक्ष्य निर्धारित करते हैं । (ब) शिक्षा के विस्तृत उद्देश्य राष्ट्रीय विकास के लक्ष्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक लोगों को तैयार करने से संबंधित होते हैं । (स) इन लोगों को तैयार करने में मूल्यों आदि का विकास भी आवश्यक है, अत: व्यक्तित्व के समग्र विकास की बात याद कर लेनी चाहिये । (द) शिक्षाक्रम में समाहित करने के लिए मूल्य संविधान एवं शिक्षा नीति में निर्धारित कर दिये गये हैं । (य) जानकारी, ज्ञान, अवधारणाओं एवं दक्षताओं के चयन/संयोजन के लिए व्यवहारवादी मनोविज्ञान और राष्ट्रीय आवश्यकतायें यथेष्ठ हैं ।

यदि आर. एच. दवे समिति की रिपोर्ट में शिक्षा के उद्देश्यों से पी. एन. दवे एवं सहयोगियों द्वारा विकसित न्यूनतम अधिगम स्तरों संबंधी दस्तावेज में शिक्षा के उद्देश्यों को देखें तो बहुत कुछ समानता है । इस की विस्तृत विवेचना तो आगे करेंगे, यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि पहले दस्तावेज में 'समाज के लिए उपयोगी और लाभकारी वयस्क' की परिभाषा ''राष्ट्रीय विकास के लिए आवश्यक कार्मिक'' के रूप में कर दी जाये तो दोनों के उद्देश्य बहुत नजदीक आ जायेंगे ।

उद्देश्यों के नजदीक आने एवं व्यवहारवादी शिक्षाशास्त्र की स्वीकारोक्ति के बावजूद यह नहीं समझना चाहिये कि ये दोनों न्यूनतम अधिगम स्तर निर्धारक वक्तव्य शिक्षाक्रम को एक ही नजर से देख रहे हैं । इनके शिक्षाक्रम संबंधी दृष्टिकोण में काफी भेद हैं। पर यहां हमारा इरादा केवल शैक्षिक उद्देश्यों को समझना है । अत: हम अन्य चीजों की विवेचना नहीं कर रहे हैं ।

शिक्षाक्रम संबंधी ऊपर उल्लेखित दोनों दस्तावेज नब्बे के दशक में प्रकाशित/प्रसारित किये गये हैं । राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् के शिक्षाक्रम संबंधी दस्तावेजों में एक और महत्वपूर्ण दस्तावेज है । इस का नाम ''न्यूनतम अधिगम सातत्यक'' (मिनिमम लर्निंग कनटिन्यूअम)[16] है, इसका प्रकाशन 1979 में हुआ था । अन्य दोनों दस्तावेजों की तरह न्यनतम अधिगम सातत्यक की प्रस्तावना भी परिषद के तात्कालिक निदेशक ने ही लिखी है और उन्हीं की तरह शिक्षा के उद्देश्यों पर इस प्रस्तावना में भी एक स्पष्ट वक्तव्य शामिल है, ''न्यूनतम अधिगम सातत्यक में चिन्हित (आइडेन्टिफाइड) स्तरांत क्षमतायें (टर्मिनल कम्पीटेंसीज) उन क्षमताओं (दक्षताओं ?) का प्रतिनिधित्व करती हैं जो किसी भी बच्चे के समाज के लिए उपयोगी एवं उत्पादक सदस्य के रूप में जीने एवं लाभप्रद (रिवार्डिंग) व्यक्तिगत जीवन के लिए आवश्यक है ।[17]

आगे भी यही बात लगभग इन्हीं शब्दों में कई बार दोहराई गई है । सातत्यक की मुख्य विशेषताओं की सूची देकर कहा गया है कि ये सब विशेषतायें ईश्वर भाई पटेल समिति द्वारा निरुपित शिक्षा के मूल लक्ष्यों से एकात्म भाव रखती हैं; और शिक्षा के मूल लक्ष्य हैं कि ''बच्चों को इस तरह तैयार किया जाये कि वे (बच्चे) (1) एक उत्पादक एवं उपयोगी नागरिक के रूप में कार्य कर सकें तथा (2) लाभकारी व्यक्तिगत जीवन जी सकें'।[18]

इससे पहले यह कहा गया है कि यह सातत्यक उन क्षमताओं (कम्पीटेन्सीज) पर आधारित हैं जो बच्चों के लिए अतिआवश्यक है - ''एक व्यक्ति के रूप में भी और समाज उपयोगी एक उत्पादक सदस्य के रूप में भी'' ।[19] फिर कहा गया है कि प्राथमिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण के कार्यक्रम में 'शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को वह ज्ञान, दक्षतायें, आदतें, अभिरुचियां और मूल्य ग्रहण करने के योग्य बनाना है जिनसे वह (1) एक नागरिक की जिम्मेदारियों का सफलता पूर्वक निर्वाह कर सके तथा (2) जो लाभकारी (रिवार्डिंग) व्यक्तिगत जीवन के लिए आवश्यक है ।[20] सातत्यक में जब बच्चों को सिखायी जाने वाली चीजों-क्षमताओं, अभिरुचियों एवं मूल्यों आदि को चिन्हित करने के लिए आधार प्रस्तुत करने की आवश्यकता अनुभव हुई तो यह कहा गया है कि: क्योंकि भविष्य में समाज कैसा होगा इसकी कोई सुनिश्चित भविष्यवाणी संभव नहीं है, अत: ''बच्चों की क्षमतायें इस तरह विकसित की जानी चाहियें कि जब वे बड़े हों तो भावी विश्व में व्यवहार करने के लिए आवश्यक अनुकूलनशीलता (अडेप्टेबलिटी) एवं क्षमता (कैपेबिलिटी) से युक्त हों, जो उनके सुखी व्यक्तिगत जीवन के लिए एवं समाज के उत्तरदायी नागरिक के रूप में व्यवहार करने के लिए आवश्यक हों।''[21]

---

15. वही/पृष्ठ 7

16. मिनिमम लर्निंग कन्टीन्यूअम 1979, एनसीईआरटी.

17. मिनिमम लर्निंग कन्टीन्यूअम (एलएमसी)-एन.सी.ई.आर.टी. 1979 VI

18. वही/पृष्ठ 3

19. वही/पृष्ठ 3

20. वही/पृष्ठ 4

21. वही/पृष्ठ 4

न्यूनतम आवश्यक क्षमताओं (कम्पीटेन्सिज) को चिन्हित करने के लिए मूलभूत मानदण्डों (क्राइटेरिया) में से एक है यह ''अपेक्षा कि बच्चा इस तरह से बड़ा हो कि वह समाज के उपयोगी एवं उत्पादक सदस्य के रूप में काम कर सके'' ।[22] अगला मापदण्ड है ''चरित्र निर्माण पर समुचित जोर देना तथा जनतंत्र, समाजवादी समाज एवं सामाजिक न्याय से संबंधित मूल्यों के विकास पर समुचित बल देना''।[23]

इस दस्तावेज में पहले विवेचित दो दस्तावेजों की तुलना में व्यक्तिगत विकास, समालोचनात्मक चिंतन एवं व्यक्तिगत जीवन में खुशी पर अधिक बल है । इस बात का प्रभाव शिक्षाक्रम में समाहित अधिगम बिन्दुओं पर भी साफ दिखता है । कम्पीटेंसी शब्द का उपयोग भी 'दक्षता' के बजाय 'क्षमता/योग्यता/काबिलियत' के अर्थो में अधिक लगता है, क्योंकि इस शब्द के उपयोग के बावजूद दस्तावेज में इसे सर्वग्रासी नहीं बनने दिया गया है । अवधारणाओं, ज्ञान, अभिरुचियों, मूल्यों आदि का जिक्र है जो कि आर. एस. दवे समिति द्वारा निर्धारित न्यूनतम अधिगम स्तरों तक आते-आते मात्र 'दक्षताएं' रह गया है । इन सब के बावजूद शिक्षा के मूल उद्देश्यों में महत्व क्रम वही है: (1) समाज के लिए उपयोगी व उत्पादक नागरिक बनाना, (2) उपयोगी नागरिक के रूप में जीवन को लाभकारी पाना, (3) इसके लिए आवश्यक क्षमताओं, ज्ञान एवं मूल्यों आदि का विकास । हालांकि जैसा कि ऊपर कहा गया है, दस्तावेज निर्माता समूह ने बीच-बीच में व्यक्ति को स्थापित करने के प्रयत्न किये हैं।

इन दस्तावेजों के अध्ययन से कुछ बातें बिल्कुल साफ हो जाती हैं : (1) प्रथमत: शिक्षाक्रम निर्माता व्यक्ति को राष्ट्र व समाज के लिए उत्पादक एवं उपयोगी इकाई के रूप में देखते हैं । उस इकाई का व्यक्ति होना, अपने जीवन को सार्थक पाना आदि दूसरे स्थान पर आते हैं । (2) उपयोगी इकाई, उत्तरदायी नागरिक, लाभकारी वयस्क आदि की स्पष्ट परिभाषा उपलब्ध नहीं है । (3) अन्तिम व सर्वाधिक प्रचारित दस्तावेज तक आते आते यह विचार पूरी तरह स्थापित हो चुका है । सातत्यक में व्यक्ति के महत्व संबंधी विचारों को ढूंढ पाने की जो भी संभावना थी वह समाप्त हो गई है और साथ ही यथानुरूप ''दक्षता'' का महत्व शैक्षिक विमर्श में प्रयुक्त अन्य अवधारणाओं-ज्ञान, अवधारणा, मूल्य आदि-तुलना में बहुत बढ़ गया है ।

क्या शिक्षा के उद्देश्यों को इस नजर से देखना ठीक है ? मानव एवं शिक्षा की स्पष्ट तौर पर उपयोगितावादी धारणा बनाने के बावजूद क्या इस प्रकार निरुपित उद्देश्यों में यथेष्ट स्पष्टता है ? क्या शिक्षा के आयोजन के लिए यह निरुपण स्पष्ट दिशा दिखाता है ? आदि प्रश्नों पर विचार की आवश्यकता है ।

क्या शिक्षा के उद्देश्यों को इस नजर से देखना ठीक है ? मानव एवं शिक्षा की स्पष्ट तौर पर उपयोगितावादी धारणा बनाने के बावजूद क्या इस प्रकार निरुपित उद्देश्यों में यथेष्ट स्पष्टता है ? क्या शिक्षा के आयोजन के लिए यह निरुपण स्पष्ट दिशा दिखाता है ? आदि प्रश्नों पर विचार की आवश्यकता है । पर इससे पहले बानगी के लिए कुछ ऐसे दस्तावेजों को देखना आवश्यक है जो उपरोक्त प्रकार के शिक्षाक्रम दस्तावेजों को दिशा देते हैं । ऊपर जिन तीन शिक्षाक्रम दस्तावेजों का जिक्र किया है वे शिक्षा के उद्देश्यों के संदर्भ में राष्ट्रीय शिक्षा नीति एवं शिक्षा पर बैठाई गई समितियों/कमीशनों की रिपोर्टों का हवाला देते हैं । और केवल उन्हीं का हवाला देते हैं । अत: उद्देश्यों के मामले में मूल दस्तावेज वे रिपोर्टें हैं । उनमें नमूने के तौर पर कुछ को देखा जाना आवश्यक है ।

राष्ट्रीय शिक्षा आयोग (1964-66) की रिपोर्ट ''शिक्षा और राष्ट्रीय विकास, इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण और व्यापक प्रभाव डालने वाला दस्तावेज सिद्ध हुई है । इसके 1971 के संस्करण के आरंभ में उस वक्त की राष्ट्रीय शिक्षा नीति; जो कि इसी रिपोर्ट पर भारत सरकार का संकल्प (रिजोल्युशन) है; को भी शामिल किया गया है । यह राष्ट्रीय शिक्षा नीति राष्ट्र के विकास में शिक्षा को बहुत महत्वपूर्ण स्थान देती है । स्वतंत्रता के बाद सरकार की एक बड़ी चिंता शिक्षा पर ''राष्ट्रीय विकास एवं सुरक्षा के लिए एक महत्वपूर्ण घटक (वाइटल फैक्टर)''[24] के रूप में उत्तरोत्तर अधिक ध्यान देना रही। सरकार के संकल्प में शिक्षा को राष्ट्रीय शिक्षा आयोग की अनुशंसाओं के आधार पर पुनर्गठित करने की बात कही गई है । और यह भी उल्लेख है कि यह पुनर्गठन ... ''राष्ट्र के आर्थिक एवं सांस्कृतिक विकास के लिए आवश्यक है, राष्ट्रीय एकता के लिए आवश्यक है तथा समाजवादी आदर्शों के अनुकूल समाज के निर्माण के लिए आवश्यक है ।''[25] शिक्षा से अपेक्षा की गई है कि वह ''चरित्रवान एवं योग्य नवयुवक और नवयुवतियों का निर्माण करे जो राष्ट्र की सेवा एवं विकास के लिए

22. वही/पृष्ठ 5
23. एज्यूकेशन एण्ड नेशनल डवलपमेंट, रिपोर्ट, रिर्पोट ऑफ द एज्यूकेशन कमीशन 1964-66 एन.सी.आर.टी. 66 रिप्रिन्ट 1971

24. वही/पृष्ठ 15
25. वही/पृष्ठ 15

प्रतिबद्ध हों ।'' ..[26] तभी शिक्षा राष्ट्र के विकास में एवं राष्ट्रीय एकता में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकेगी । ''यह आवश्यक है यदि राष्ट्र अपनी महान सांस्कृतिक विरासत एवं अन्यन्य (यूनिक) संभावनाओं (पोटेन्शियलिटीज) के अनुरूप महत्व का स्थान (विश्व के) राष्ट्रों के समुदाय में प्राप्त करना चाहता है ।''[27]

यहां शिक्षा को राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति एवं लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए एक महत्वपूर्ण कारक के रूप में स्वीकार किया गया है और इस अपेक्षा को पूरा करने की पुरजोर शब्दों में मांग की गई है । पर शिक्षा को राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति एवं लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए एक उपकरण मात्र के रूप में नहीं देखा गया है । न ही यह माना गया है कि इन अपेक्षाओं की पूर्ति करने में अकेली शिक्षा समर्थ है । पर मुख्य बात यह है कि शिक्षा के राष्ट्रीय विकास एवं लक्ष्यों की प्राप्ति में योगदान के अलावा कोई और लक्ष्य या आदर्श भी हो सकते हैं, इसकी संभावना इन वक्तव्यों में बची रह जाती है । यहां शिक्षा को राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति के दायरे में पूर्णतया जकड़ नहीं दिया गया है ।

कमीशन की रिपोर्ट में भी शिक्षा को कमोबेश इसी अन्दाज में देखा गया है ''शिक्षा पर इसको एकाकी मानकर विचार नहीं किया जा सकता तथा न ही इसकी योजना निर्वात में बनाई जा सकती है । अत: इसे सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक बदलाव के लिए एक उपकरण के रूप में काम में लेना होगा ।[28]

शिक्षा की कल्पना निर्वात में नहीं की जा सकती, उसे सामाजिक संदर्भों से काटकर नहीं देखा जा सकता, यह बात सही है । शिक्षा से राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में 'सकारात्मक' बदलावों की अपेक्षा रहती है, यह भी ठीक है । शिक्षा को इन बदलावों के लिए एक उपकरण मात्र के रूप में देखना भिन्न बात है । रिपोर्ट में शिक्षा को एक प्रभावशाली उपकरण के रूप में देखने के विचार का बहुत साफ खुलासा किया गया है । शिक्षा को मानव संसाधन विकास के उपक्रम के रूप में देखा गया है । यह ठीक है कि मानव संसाधन विकास को अपने आप में ही उद्देश्य माना गया है तथा लोगों के ज्ञान, दक्षताओं, अभिरूचियों एवं मूल्यों को बदलाव के रूप में परिभाषित किया गया है ।[29] पर यह बदलाव कैसा हो, कौन सा ज्ञान महत्वपूर्ण है तथा किन मूल्यों का विकास करना है यह चुनाव शिक्षा को पूर्वनिर्धारित राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति का उपकरण मात्र मानकर करने की सलाह दी गई है । शिक्षा बदलाव के उपकरण के रूप में एवं राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति के साधन के रूप में तो महत्वपूर्ण मानी गयी है पर बदलाव की दिशा की समीक्षा करने एवं राष्ट्रीय लक्ष्यों के निर्धारण में शिक्षा की भूमिका पर कुछ भी नहीं कहा गया है ।

कमीशन को इस समस्या का स्पष्ट आभास है । इस संदर्भ में एक पूरा अनुच्छेद दिया गया है। उदाहरण के रूप में पर्याप्त लम्बा होने के बावजूद इस अनुच्छेद को यहां पूरा ही दे रहे हैं :

''शिक्षा के सामाजिक उद्देश्यों पर बल देने, उसे राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए उपयोग करने की आवश्यकता पर बल देने या राष्ट्रीय चुनौतियों का सामना करने के लिए उपयोग में लाने की आवश्यकता पर बल देने का यह अर्थ नहीं है कि व्यक्ति के लिए इसके महत्व को कम करके आंका जा रहा है । जनतंत्र में व्यक्ति अपने आप में ही महत्वपूर्ण है (एन एण्ड इन हिमसेल्फ) और शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य उसे अपनी क्षमताओं के संपूर्ण विकास के लिए व्यापकतम अवसर उपलब्ध करवाना है। पर इस उद्देश्य की राह सामाजिक पुनर्गठन एवं सामाजिक परिप्रेक्ष्य को रेखांकित करने से होकर ही जाती है। वास्तव में समाजवादी ढांचे पर आधारित समाज में, जो कि राष्ट्र बनाना चाहता है; एक महत्वपूर्ण सिद्धांत जिसे रेखांकित किया जाना चाहिये वह यह है कि व्यक्तिगत परितोष (फुलफिलमेन्ट) स्वयं या अपने समूह के स्वार्थ और संकीर्ण हितों की साधना से नहीं आता बल्कि सभी की संपूर्ण राष्ट्रीय विकास के प्रति व्यापक निष्ठा के प्रति समर्पण से आता है ।''[30]

शिक्षा के व्यक्ति संबंधी उद्देश्यों पर बस यही टिप्पणी है । जहां शिक्षा को राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति में उपकरण के रूप में काम में लेने के लिए सविस्तार विचार किया गया है, वहीं व्यक्ति की क्षमताओं के विकास की बात केवल राष्ट्रोपयोगी मानव संसाधन के रूप में की गई है । इस परिप्रेक्ष्य के लिए दिया गया तर्क कि व्यक्तिगत परितोष व्यापक राष्ट्रीय हित के प्रति प्रतिबद्धता से आता है, विचारणीय है; तथा सही हो सकता है (इस पर आगे विचार करेंगे) पर व्यक्ति की केवल और केवल उन्हीं क्षमताओं के विकास को शिक्षा का लक्ष्य बनाना जो कि पूर्व निर्धारित एवं कथित राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायक हों; और अन्य क्षमताओं पर विचार ही न किया जाना क्या ठीक होगा ? बल्कि शिक्षा के उद्देश्यों को इतनी दृढ़ता से राष्ट्रीय लक्ष्यों से बांध देना क्या स्वयं राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति में भी सहायक हो सकेगा ? मुझे शक है कि यह नजरिया व्यक्ति को तो संसाधन बनाता ही है, राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति में भी सहायक नहीं होता । फिर भी शिक्षा आयोग तो इसी नजरिये से आगे की योजना को विकसित करना आरंभ करता है। पर अंत तक पहुंचते पहुंचते उन व्यक्तिगत क्षमताओं को शिक्षा के दायरे में ले

26. वही/पृष्ठ 16

27. वही/पृष्ठ 16

28. वही/पृष्ठ -4

29. वही/पृष्ठ 4

30. वही/पृष्ठ 8

आता है जो राष्ट्रीय लक्ष्यों को केवल प्राप्त करने के लिए ही नहीं बल्कि उनकी विवेचना के लिए भी प्रयुक्त की जा सकती है ।

पूरा तर्क इस प्रकार बनता है : शिक्षा राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए हो । राष्ट्रीय लक्ष्य व्यापक सामाजिक एवं सांस्कृतिक बदलाव के बिना प्राप्त नहीं हो सकते। अत: शिक्षा को इस बदलाव के उपकरण के रूप में काम में लिया जाये । शिक्षा ऐसा उपकरण तभी बन सकती है जब वह :

(अ) उत्पादकता के लिए हो,
(ब) राष्ट्रीय एवं सामाजिक एकता को मजबूत करे, लोकतंत्र को मजबूत करे एवं राष्ट्र को इसे जीवन पद्धति के रूप में अपनाने में मदद करे;
(स) आधुनिकीकरण की गति को बढ़ाये, तथा
(द) सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के संवर्धन के लिए प्रयत्नशील हो ।[31]

शिक्षा को उत्पादकता से जोड़ने के लिए विज्ञान व कार्यानुभव शिक्षाक्रम में शामिल किये जायें क्योंकि विज्ञान द्वारा विकसित ''व्यावसायिक मानव शक्ति'' (प्रोफेशनल मैन पावर) उत्पादकता को बढ़ाती है और आवश्यकता से अधिक ठीक से शिक्षित न किये गये कला स्नातक, जिन में से बहुत से तो काम देने काबिल ही नहीं होंगे, सामाजिक तनाव उत्पन्न करेंगे एवं आर्थिक प्रगति में बाधा होंगे ।[32] कार्यानुभव को शिक्षा में शामिल कर लेने से पारंपरिक रूप से शिक्षित लोगों का काम से जी चुराना समाप्त होगा और शिक्षित व्यक्ति 'उत्पादन का महत्वपूर्ण स्रोत' बनेगा, जबकि अशिक्षित व्यक्ति 'समाज पर एक अनुत्पादक' भार ही होगा ।[33]

शिक्षा द्वारा लोकतंत्र को मजबूत करने के लिए आवश्यक है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण (साइंटिफिक टेम्पर ऑफ माइंड), राष्ट्र के अन्य समूहों की संस्कृति के प्रति सम्मान, सहनशीलता, आदि प्रकार के मूल्यों पर बल देना चाहिये । शिक्षा द्वारा आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को तेज करना भी लाजिमी है क्योंकि ज्ञान का विस्तार बहुत तेज गति से हो रहा है तथा सामाजिक बदलाव भी बहुत तीव्र गति से हो रहे हैं, अत: शिक्षा का उद्देश्य ज्ञान को एक तैयार उत्पाद के रूप में देना नहीं हो सकता । बल्कि शिक्षा के माध्यम से, जिज्ञासा को जगाने, रुचियों को विकसित करने, प्रवृत्तियों और मूल्यों का विकास करने और उन दक्षताओं को विकसित करने का प्रयत्न करना होगा जो स्वायत्त अध्ययन, अपने आप सोचना एवं स्वायत्त निर्णय लेने के लिए आवश्यक है । क्योंकि इनके बिना लोकतंत्र में एक नागरिक के उत्तरदायित्वों का निर्वहन संभव नहीं है।[34]

जहां तक शिक्षा के सार और भूमिका पर अभिव्यक्त विचारों का सवाल है, राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 निसंदेह अधिक उदार दृष्टिकोण अपनाती है । हमारे राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में ''सब के लिए शिक्षा हमारे भौतिक और आध्यात्मिक विकास की बुनियादी आवश्यकता है ।''[35] ''शिक्षा सुसंस्कृत बनाने का माध्यम है । यह हमारी संवेदनशीलता और दृष्टि को प्रखर करती है, जिससे राष्ट्रीय एकता पनपती है, वैज्ञानिक तरीके के अमल की संभावना बढ़ती है और समझ और चिंतन में स्वतंत्रता आती है । साथ ही शिक्षा हमारे संविधान में प्रतिष्ठित समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र के लक्ष्यों की प्राप्ति में हमारी सहायता करती है ।''[36] फिर भी शिक्षा के व्यापक लक्ष्यों का व्यक्ति के संदर्भ में कोई विश्लेषण नहीं दिया गया है । केवल राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति के संदर्भ में ही उनकी बात हुई है ।

यहां मूल बात संवेदनशीलता और दृष्टि के प्रखर होने, समझ और चिंतन में स्वतंत्रता आने की लगती है । जब ये होगा तो राष्ट्रीय एकता, भौतिक उन्नति एवं राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति में मदद मिलेगी। लगता है शिक्षा के वजूद की स्वतंत्रता को स्वीकारा गया है तथा उसके व्यापक लक्ष्यों का राष्ट्रीय लक्ष्यों से संबंध जोड़ा गया है । न कि राष्ट्रीय लक्ष्यों के आधार पर शिक्षा की परिकल्पना करके उसके व्यापक लक्ष्यों में से उपयुक्त को बेमन से स्थान दिया गया है । यह महत्वपूर्ण दृष्टिभेद है ।

शिक्षा से यहां भी वे सब अपेक्षायें हैं जो शिक्षा आयोग 1964-66 की रिपोर्ट शिक्षा और राष्ट्रीय विकास में रेखांकित की गई हैं, ''शिक्षा के द्वारा ही आर्थिक व्यवस्था के विभिन्न स्तरों के लिए जरुरत के अनुसार जनशक्ति का विकास होता है । शिक्षा के आधार पर ही अनुसंधान और विकास को संबल मिलता है जो राष्ट्रीय आत्म-निर्भरता की आधारशिला है ।''[37] पर शिक्षा के लिए सांस लेने की जगह छोड़ दी गई है । इसे इन चीजों के लिए एक उपकरण घोषित नहीं किया गया । यहां तक, कम से कम; शिक्षा की छवि की कल्पना एक सम्मानित संरक्षिका की बनती है जिसका यह उत्तरदायित्व है कि वह आर्थिक व्यवस्था के लिए जनशक्ति का भी विकास करे, न कि एक बांदी की जिसके अस्तित्व का औचित्य ही यह है कि वह आर्थिक व्यवस्था के लिए कार्मिकों का निर्माण करती है ।

पर जब राष्ट्रीय एकता और अस्मिता का प्रश्न आता है तो इस शिक्षा रूपी सम्मानित संरक्षिका की भलमनसाहत एवं क्षमताओं पर पूरा भरोसा नहीं किया जाता । बल्कि इसके लिए बाध्यकारी

31. वही/पृष्ठ 11
32. वही/पृष्ठ 9
33. वही/पृष्ठ 14
34. वही/पृष्ठ 32
35. राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 पृष्ठ 2
36. वही/पृष्ठ 2
37. वही/पृष्ठ 2

नियम बनाने का प्रयत्न साफ झलकता है । शिक्षा व्यवस्था पूरे देश के लिए एक राष्ट्रीय शिक्षाक्रम के ढांचे पर आधारित होगी । उसमें एक ''सामान्य केन्द्रिक'' (कामन कोर) होगा, जिसे सभी विषयों में पिरोया जायेगा। ''इनके द्वारा राष्ट्रीय मूल्यों को इस इंसान की सोच और जिंदगी का हिस्सा बनाने की कोशिश की जायेगी । इन राष्ट्रीय मूल्यों में ये बातें शामिल हैं : हमारी समान सांस्कृतिक धरोहर, लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता, स्त्री-पुरुषों के बीच समानता, पर्यावरण का संरक्षण, सामाजिक समता, सीमित परिवार का महत्त्व और वैज्ञानिक तरीके के अमल की जरूरत । यह सुनिश्चित किया जायेगा कि सभी शैक्षिक कार्यक्रम धर्मनिरपेक्षता के मूल्यों के अनुरूप ही आयोजित हों ।[38]

शिक्षा बदलाव के उपकरण के रूप में एवं राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति के साधन के रूप में तो महत्वपूर्ण मानी गयी है पर बदलाव की दिशा की समीक्षा करने एवं राष्ट्रीय लक्ष्यों के निर्धारण में शिक्षा की भूमिका पर कुछ भी नहीं कहा गया है ।

यहां संवेदन एवं दृष्टि की प्रखरता, समझ और चिंतन की स्वतन्त्रता मात्र से ये राष्ट्रीय मूल्य आ जायेंगे ऐसा नहीं माना गया। इन्हें सुनिश्चित करने के लिए अलग से प्रयत्न करने होंगे । मैं समझता हूं कि यह मोटे तौर पर उपयुक्त ही है । यदि इन्हे विवेक सम्मत चिंतन के सहारे विकसित करने का प्रयत्न किया जाये और बिना समझे मतारोपण (इंडोक्ट्रीनेशन) तथा अनुबंधन (कंडीशनिंग) की प्रकियाओं का सहारा न लिया जाये । पर स्पष्ट ही ''सीमित परिवार का महत्व'' हंसों में बगुले की उपस्थिति का भान करवाता है। मैं कतई यह नहीं कहना चाहता हूं कि सीमित परिवार के महत्व को न समझा जाये। पर यह वैसा मूल्य नहीं है जैसा लोकतंत्र है, जैसा सामाजिक समता है । इस का कोई दार्शनिक निरपेक्ष आधार नहीं है । यह तात्कालिक परिस्थिति के कारण लिया गया एक सामयिक निर्णय है, मान की प्रकृति पर आधारित नैतिक मूल्य नहीं। इस स्थान पर इसकी उपस्थिति मूल्यों की इस पूरी सूची को हल्का करती है । इसे कहीं और रखा जाना चाहिये था।

आरंभ में संवेदना एवं दृष्टि की प्रखरता तथा समझ एवं चिंतन की स्वतंत्रता पर अभिव्यक्त किया गया विश्वास महिला समानता के मुद्दे तक आते आते पूर्णतया लुप्त हो गया है। ''शिक्षा का उपयोग महिलाओं की स्थिति में बुनियादी परिवर्तन लाने के लिए एक साधन के रूप में किया जायेगा । .... इस काम को सामाजिक पुनर्रचना का अभिन्न अंग मानते हुए इसे पूर्ण कृतसंकल्प हो कर किया जायेगा ...।'' हिन्दी संस्करण में इस बात की धार छुप जाती है । मेरा विचार है कि अंग्रेजी संस्करण में दिये गये दूसरे वाक्य का अधिक सटीक अनुवाद ''यह काम पूर्ण आस्था पर आधारित तथा 'सोसियल इंजिनियरिंग' के माध्यम से किया जायेगा।'' (दिस विल बी एन एक्ट ऑफ फैथ एण्ड सोशियल इंजिनियरिंग)'[39] ''सोसियल इंजिनियरिंग'' सामाजिक पुनर्रचना से कुछ अधिक होती है, इसी तरह ''एक्ट आफ फैथ'' कृतसंकल्प होने से कुछ अधिक है । ''सोशियल इंजिनियरिंग'' और ''एक्ट आफ फैथ'' में निहित है कि अंतिम निर्णय लिया जा चुका है, समाज की तस्वीर गढ़ी जा चुकी है, और विचार और तर्क की गुंजाइश नहीं है; अब बस इसे कर देना है । शिक्षा को इस अंदाज में काम में लेना किसी का भी भला नहीं करता । वह या तो असफल होती है या अशुभ को जन्म देती है । फिर मुद्दा अपने आप में चाहे कितना भी असंदिग्ध और शुभ हो; और महिला समानता का मुद्दा पूर्णतया असंदिग्ध एवं शुभ है इसमें कोई शक नहीं किया जा रहा है ।

शिक्षा आयोग 1964-66 शिक्षा को राष्ट्रीय विकास के लिए एक प्रभावी उपकरण मानकर चलता है और राष्ट्रीय विकास की जरूरतों एवं उसे परिभाषित करने के क्रम में लोकतंत्र एवं संस्कृति की बात करता है तथा व्यक्ति की बात केवल सामाजिक आवश्यकता के कारण करता है । राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 शिक्षा को पूरी तरह एक उपकरण के रूप में तो नहीं देखती पर फिर भी शिक्षा का महत्व राष्ट्रीय विकास एवं मानव संसाधन विकास के कारण ही रेखांकित करती है । कोई चाहे तो इस की व्याख्या में व्यक्ति पर बल दे सकता है, पर शिक्षा नीति अपने आप में तो ऐसा कोई बल नहीं देती। लेकिन इसी शिक्षा नीति की समीक्षा के लिए गठित राममूर्ति समिति अपनी रिपोर्ट ''प्रबुद्ध और मानवीय समाज की ओर'' में व्यक्ति को प्रतिष्ठित करती है। इस रिपोर्ट में वैचारिक दिशाओं में तनाव अन्य दोनों दस्तावेजों की तुलना में अधिक हैं । अत: एक गहरे स्तर पर आंतरिक विसंगतियां भी अधिक गंभीर हैं। पर निसंदेह यह रिपोर्ट एक अधिक खुले समाज की बात करती है, जिसमें शिक्षित किये जाने वाले लोग राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति में योगदान देने के साथ-साथ उनके निर्धारण में भागीदार के रूप में देखे गये हैं ।

समीक्षा समिति के मार्गदर्शक सिद्धांतों में ''समता तथा सामाजिक न्याय'' तथा ''प्रबुद्ध तथा मानवीय समाज के सृजन के लिए अनिवार्य मूल्यों में रूचि पैदा करना''[40] शामिल है । ''समिति का विचार है कि मानव को संसाधन से कहीं अधिक महत्व दिया जाना चाहिये । उसके संसाधन पहलू पर ही ज्यादा जोर देने से उपयोगितावादी मनोवृति की गंध आती है ।''[41] इससे पहले की दोनों शिक्षा नीतियों में केवल यह एक ही गंध आती है । इसी पृष्ठ पर आगे कहा है : ''यद्यपि उपयोगितावादी पहलू भी महत्वपूर्ण है,

परंतु मानव का विकास उसके चरित्र निर्माण, श्रम की गरिमा तथा राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर समाज के लिए उसके मूल्य परिप्रेक्ष्य में किया जाना चाहिये ।''[42] वास्तव में ''परंतु'' के बाद लगाई गई शर्त किसी भी तरह से उपयोगितावादी दृष्टिकोण का विरोध नहीं करती । सभी दस्तावेज चरित्र -निर्माण, श्रम की गरिमा एवं काबिलियत और ''समाज के लिए'' व्यक्ति के मूल्य की बात करते हैं । इस शर्त से मानव को संसाधन मानने की मनोवृत्ति पर कोई गंभीर प्रभाव पड़ने की संभावना नहीं है । यहां मानव को संसाधन न मानने पर बल देने के बाद तुरंत उसे ''समाज के लिए'' विकसित करने की बात समिति के सदस्यों के बीच वैचारिक तनाव की अभिव्यक्ति लगती है । अगले अनुच्छेद में यह अभिव्यक्ति और भी स्पष्ट है : ''शिक्षा का एक महत्वपूर्ण कार्य यह है कि वह शिक्षा के हर स्तर पर एक ऐसी कार्य-संस्कृति पैदा कर दे कि वह (व्यक्ति) स्वर्भभूत: हित: अर्थात सबके कल्याणार्थ एक सामाजिक तथा आर्थिक रूप से उपयोगी मानव के रूप में विकास कर सके ।''[43] यहां वही ''सामाजिक रूप से उपयोगी एवं उत्पादक'' इकाई वाली बात कही गयी है, पर यह शिक्षा का एक महत्वपूर्ण कार्य माना गया है न कि शिक्षा को मुख्य या एकमात्र उद्देश्य । अत: उपयोगितावाद को थोड़ा हल्का करने का प्रयत्न है । तुरंत बाद एक शर्त भी है: ''सबसे ज्यादा जरूरी है कि छात्रों में देश की सांस्कृतिक तथा कलात्मक धरोहर के बारे में समालोचनात्मक प्रशंसा और चिंता (एप्रिशियेशन एण्ड कंसर्न) का दृष्टिकोण पैदा किया जाये । इन मूल्यों के माध्यम से ही देश में एक प्रबुद्ध तथा मानवीय समाज उत्पन्न हो सकेगा और कायम रह सकेगा ।''[44]

यहां नई बात ''समालोचनात्मक'' दृष्टि की जोड़ी गई है । सामान्यत: सांस्कृतिक धरोहर को सभी मूल्यों की अंतिम खान के रूप में देखा जाता है तथा उसके संदर्भ में समालोचनात्मक नजरिये की बात पर बल नहीं दिया जाता । कहने का तात्पर्य यह है कि उपयेगितावादी दृष्टिकोण एवं सांस्कृतिक धरोहर को ग्रहण करते समय व्यक्ति के स्वतंत्र दृष्टिकोण की तरफ बार-बार इशारा किया गया है ।

यहां शिक्षा की परिकल्पना राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में अवश्य है पर व्यक्ति को केन्द्र में रखकर बनाई गई लगती है । व्यक्ति के स्वतंत्रचेता एवं स्वायत्त निर्णय लेने वाली इकाई (सत्ता?) के रूप में विकास पर बार-बार बल दिया गया है । शिक्षा की भूमिका एवं उद्देश्यों को निरूपित करने में भी यह विचार प्रमुख रहता है । ''शिक्षा का उद्देश्य है अहिंसक एवं शोषण रहित सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था की स्थापना ।''[45] अहिंसक एवं शोषण रहित व्यवस्था व्यक्ति को संसाधन बनने की मजबूरी से मुक्त करती है । क्योंकि संसाधन की अवधारणा में ही उपयोग किये जाने की भावना निहित है उपयोग करने में शोषण बीज रूप में निहित है। ''शिक्षा .... जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति अपने सार्थक अस्तित्व के लिए निरंतर सीखता रहता है ।''[46] ''शिक्षा के प्रमुख उद्देश्यों तथा भूमिकाओं की चर्चा की जा सकती है जिन्हें वास्तव में शक्तिग्रहण तथा सामाजिक परिवर्तन के साधन की प्रक्रिया के रूप में देखा जा सकता है (क्योंकि व्यक्ति इसी कारण सामाजिक परिवर्तन का साधन बनता है ।)।''[47] व्यक्ति जब स्वयं शक्ति ग्रहण करके सामाजिक परिवर्तन करता है तो वह शिक्षा के द्वारा चलाई सोसियल इंजिनीयरिंग की प्रक्रिया से भिन्न प्रक्रिया होती है। पहली में परिवर्तन की दिशा तय करने में व्यक्ति की भूमिका महत्वपूर्ण होती है, जबकि दूसरी में परिवर्तन की दिशा किसी छोटे समूह द्वारा तय की जाती है जो कि सत्ताशीन तबका भी हो सकता है ।

''शिक्षा को जागरुकता को बढ़ाने, अधिक खुलेपन, प्रश्न पूछने की क्षमता एवं साहस तथा समाधान तलाशने के लिए आवश्यक दृढ़ता का मार्ग प्रशस्त करना चाहिए ।''[48] ''इसलिए विकास के साधन के रूप में शिक्षा वास्तव में सच्ची मुक्ति का अनुभव, मुक्त होने की प्रक्रिया होनी चाहिए । मुक्ति किससे ! भारतीय संदर्भ में मुक्ति जाति, लिंग, धर्म, क्षेत्र, भाषा आदि के पूर्वाग्रहों से, मुक्ति अंधविश्वासों से, निराधार भयों से । और निश्चित रूप से अन्वेषण की स्वतंत्रता, संधान की स्वतंत्रता, सत्य को स्वीकारने की स्वतंत्रता भले ही वह व्यक्ति के पहले के विश्वासों तथा अवधारणाओं के विरूद्ध जाती हो । इस संदर्भ में व्यक्ति जितना अधिक शिक्षित हो उतना ही कम पूर्वाग्रही और अधिक खुला उसे होते जाना चाहिये। साथ ही उसे अपनी मान्यताओं के पक्ष में खुल कर खड़ा होने में कम भयभीत होना चाहिये और जरूरत पडने पर अपने आपसे, दूसरों से तथा दूसरों के लिये मांग करने में समर्थ होना चाहिये ।''[49]

लोकतंत्र के ठीक से चलने के लिए यह आवश्यक है । व्यक्ति की-प्रत्येक व्यक्ति की -इस सामर्थ्य के विकास की बात

38. वही/पृष्ठ 3 - 4
39. नेशनल पॉलिसी आन एज्यूकेशन 1986
40. प्रबुद्ध एवं मानवीय समाज की ओर, राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986- समीक्षा, 1990, पृष्ठ 141
41. वही/पृष्ठ 17
42. वही/पृष्ठ 17
43. वही/पृष्ठ 17
44. वही/पृष्ठ 17
45. महात्मागांधी, 'प्रबुद्ध और मानवीय समाज की ओर में उदृत, पृष्ठ 18
46. प्रबुद्ध और मानवीय समाज की ओर, पृष्ठ - 18
47. वही/पृष्ठ 18
48. वही/पृष्ठ 18 अनुवाद वर्तमान लेखक द्वारा
49. वही/पृष्ठ 19-20 भावानुवाद वर्तमान लेखक द्वारा ।

पहले की शिक्षा नीतियों में नहीं कही गई है । शिक्षा और राष्ट्रीय विकास में लोकतंत्र से संबंधित जिन मूल्यों का एकाधिक बार जिक्र किया गया है उनमें अपनी सुविचारित मान्यताओं के लिए साधिकार एवं सामर्थ्य पूर्वक मांग करने की बात नहीं है । केवल आत्मनियंत्रण, सहनशीलता, आपसी सद्‌भाव तथा दूसरों के प्रति सहृदय होने एवं अन्य राष्ट्रीय तबकों की संस्कृति के प्रति सम्मान रखने की बात है। दूसरों के गलत होने पर अपनी बात को दृढ़तापूर्वक रखने की जायज मांगों के लिए ''लडने'' ('प्रबुद्ध और मानवीय समाज की ओर' हिन्दी संस्करण में यही शब्द है ।) की क्षमता पैदा करने के लिए शिक्षा के महत्व को स्वीकारना एवं किसी नीति संबंधी दस्तावेज में स्थापित करना एक महत्वपूर्ण सकारात्मक कदम है। यही चिन्ता आगे भी है: ''हमें व्यक्ति की स्वायत्तता (जो कि व्यक्ति का जनतांत्रिक अधिकार है) की रक्षा के लिए व्यावहारिक उत्तर खोजने होंगे, तथा उसे दूसरों के अधिकारों के प्रति सजग एवं अनुक्रियाशील बनाना होगा ।''[50]

व्यक्ति की स्वायत्तता पर बल देने के बाद राष्ट्रीय उद्देश्यों को भी इससे जोड़ने का प्रयत्न किया गया है । ''शिक्षा एक बहुआयामी प्रक्रिया है । इसका उद्देश्य व्यक्ति के विकास के साथ-साथ राष्ट्रीय उद्देश्य और लक्ष्य की प्राप्ति के लिए छात्र की सहायता करना होना चाहिये । ... राष्ट्र के कुछ महत्वपूर्ण लक्ष्य इस प्रकार हैं : राष्ट्रीय एकता और धर्म निरपेक्षता, वैज्ञानिक मानसिकता और आधुनिकीकरण, कार्यसंस्कृति और कार्य नैतिकता और इन सब से ऊपर मानवीय और संवेदनशील समाज का निर्माण ।''[51]

हाल के वर्षों में आया शिक्षा पर एक और महत्वपूर्ण दस्तावेज ''शिक्षा: बिना बोझ के'' नाम से यशपाल समिति की रिपोर्ट है । पर रिपोर्ट शिक्षा के उद्देश्यों के बारे में कुछ भी नहीं कहती । पूरी रिपोर्ट में कम से कम दस-बारह बार वर्तमान शिक्षा प्रणाली के शिक्षा के उद्देश्यों से विमुख हो जाने या उन्हें प्राप्त करने में अप्रभावी रहने पर चिन्ता व्यक्त की गई है । पर वे उद्देश्य आखिर हैं क्या? इस प्रश्न पर कुछ नहीं कहा गया है । हां, विभिन्न टिप्पणियों से अन्दाजा लगाकर और यहां वहां से शब्द और वाक्यांशों को जोड़-गांठ कर सदस्यों के मन (या मनों !) में क्या उद्देश्य रहे होंगे, इस का अन्दाजा लगाया जा सकता है । साथ ही इस रिपोर्ट में प्रस्तुत वर्तमान स्थिति के विश्लेषण एवं अनुशंसाओं की आंतरिक संगतता को देखकर लगता है कि शिक्षा के काफी हद तक स्पष्ट एवं सदस्यों में कमोवेश स्वीकृत उद्देश्य रहे अवश्य हैं । यह दुर्भाग्य पूर्ण ही कहा जा सकता है कि इस समिति ने उनका स्पष्ट उल्लेख नही किया । अत: राष्ट्रीय शिक्षा नीति संबंधी दस्तावेजों में शिक्षा के उद्देश्यों के इस अध्ययन में इस महत्वपूर्ण दस्तावेज से हमें कोई मदद नहीं मिल सकती।

पिछले कुछ पृष्ठों में हमने छ: दस्तावेजों में निरूपित उद्देश्यों पर संक्षेप में विचार किया है । ये सभी राष्ट्रीय स्तर के दस्तावेज हैं, इन में से तीन शिक्षाक्रम संबंधी दस्तावेज हैं तथा तीन राष्ट्रीय शिक्षानीति संबंधी। हमने यहां केवल इन में निरुपित उद्देश्यों को संक्षेप में देखा है, उन उद्देश्यों को इन दस्तावेजों ने कैसे और किन निष्कर्षों पर पहुंचने के लिए काम में लिया है, इस बात पर विचार नहीं किया है। इन छहों दस्तावेजों को एक साथ देखने से एक दिलचस्प नतीजा निकलता है । पिछले लगभग तीस वर्षों में शिक्षा नीति संबंधी दस्तावेजों में निरुपित उद्देश्य उत्तरोत्तर उदार होते गये हैं । शिक्षा आयोग 1964-66 शिक्षा को मूलत: राष्ट्रीय विकास के लिए उपकरण के रूप में देखता है। व्यक्ति के गुण और क्षमताओं (यहां तक की उसकी स्वतंत्र निर्णय लेने की क्षमता को भी) को इसलिए महत्वपूर्ण मानता है कि वे राष्ट्रीय विकास में सहायक होंगी। जब कि ''प्रबुद्ध और मानवीय समाज की ओर'' व्यक्ति की स्वायत्तता, उसको समझने एवं उसके समर्थ उपयोग के लिए शिक्षा की बात करता हुआ लगता है । राष्ट्रीय विकास इस क्षमता के माध्यम से तथा इसे समृद्ध करते हुए ही, ऐसे नतीजे पर पहुंचता है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 इन दोनों के बीच में कड़ी है, दूसरी तरफ शिक्षाक्रम दस्तावेजों में चिंतन की गति इस के विपरीत है । न्यूनतम अधिगम सातत्यक व्यक्ति को उत्पादक एवं उपयोगी इकाई बनाने की मनसा की अभिव्यक्ति के बावजूद स्वायत्त चिंतन की बात करते हुए एक खुलापन लाने को प्रयत्नशील दीखता है । जबकि न्यूनतम अधिगम स्तर (श्री आर. एच. दबे समिति वाला) मूलत: व्यक्ति को उपयोगी एवं उत्पादक बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य मानता है। अपने संसार को समझना आदि स्पष्टत: उसी सीमा तक जरूरी मानता है जितना उपयोगी और उत्पादक इकाई बनने के लिए आवश्यक है। शिक्षा का यह उद्देश्य उन कारणों के बहुत नजदीक है जिनके लिए वर्ल्ड बैंक हमारे यहां प्राथमिक शिक्षा का लोकव्यापीकरण चाहता है । अर्थात उत्पादकता बढ़ाने एवं जनसंख्या वृद्धि की दर कम करने के लिए ।

50. वही/पृष्ठ 20 अनुवाद में अंग्रेजी संस्करण के साथ संगति बैठाने के लिए वर्तमान लेखक द्वारा थोडी फेरबदल

51. वही/पृष्ठ 21

दूसरी बात, इस आरंभिक विहंगावलोकन से यह स्पष्ट है कि लगभग समान शब्दावली का उपयोग करने के बावजूद इन दस्तावेजों में शिक्षा के व्यापक उद्देश्य भिन्न-भिन्न हैं । शिक्षा के आदर्श भिन्न भिन्न हैं । हमें यह याद रखना चाहिये कि आज भारत में प्राथमिक शिक्षा के लोकव्यापीकरण से जुड़े अधिकांश लोग शिक्षा के आदर्श के लिए, दिशा प्राप्ति के लिए किसी गंभीर शैक्षिक साहित्य की तरफ नहीं देखते । वे या तो अपने सहज बोध-जो कि व्यापक बेरोजगारी और खराब आर्थिक परिस्थितियों से जन्मा है - से चलते हैं या फिर हद से हद इन्हीं दस्तावेजों का हवाला देते हैं । अत: यह आदर्शों की विभिन्नता महत्वपूर्ण है। आदर्शों की विभिन्नता अपने आप में कोई बुरी बात नहीं है । बल्कि लोकतंत्र में कुछ मूल आदर्शों पर व्यापक सहमति के बाद शुभ शुभ ही होती है । पर जब यह विभिन्नता स्पष्ट तौर पर अभिव्यक्त न होकर, एक ही शब्दावली का प्रयोग करते हुए केवल विभिन्न पक्षों पर बल देने से ही अभिव्यक्त होती हो तो वैचारिक धुंध पैदा करती है। साथ ही मानवीय कर्म में विचार की भूमिका को कमजोर बनाती है । किसी की कोई मूल मान्यतायें (फण्डामेनन्टल कनविक्शन्स) नहीं रह जाती । जिन मान्यताओं को लोग अपनी मूल मान्यताओं के रूप में अभिव्यक्त करते हैं और काम में लेते हैं उनके प्रति वैचारिक स्तर पर औचित्य स्थापन की जिम्मेदारी नहीं लेते । ऐसी स्थिति में शैक्षिक आदर्श एवं शिक्षाक्रम में दिगभ्रम पैदा होता है । इस दिगभ्रम का लाभ विभिन्न देशी विदेशी शक्तियां (एजेन्सीज) अपने अपने हित-साधन के लिए करने लगती हैं । हमारे निर्णय किन्हीं ठोस आधारों पर न होकर तात्कालिक वैचारिक फैशन के बहाव में होने लगते हैं । आजकल शिक्षाक्रम एवं शिक्षण-विधियों में सुधार को लेकर चल रही हलचल में ऐसे उदाहरणों की भरमार है । उदाहरण के लिए न्यूनतम अधिगम स्तर, जो वस्तुनिष्ठ तरीके से मापी जा सकती है वही सिखाने काबिल दक्षता है, स्वास्थ्य शिक्षा विज्ञान शिक्षण की स्थानापन्न हो सकती है, चाइल्ड टू चाइल्ड विधि शिक्षाक्रम का अंग बने, मनोरंजन ही शिक्षा है, आदि दसियों विचारों को लिया जा सकता है । इन सब विचारों के पीछे एक एक समूह है और उनके अपने आर्थिक/सामाजिक एजेण्डा हैं । शिक्षा में इनको दिया जाने वाला स्थान इन समूहों द्वारा जनित दबाव पर निर्भर करता है। कोई ठोस सैद्धांतिक आधार उपलब्ध नहीं है ।

इस, और ऐसी ही अन्य परिस्थितियों से निकलने के लिए हमें शिक्षा के मूल उद्देश्यों पर सतत विचार करते रहना पड़ेगा । इस संदर्भ में देखें तो इन दस्तावेजों के विवेचन से दो स्थापनायें उभरती हैं : एक, शिक्षा के लक्ष्य राष्ट्रीय लक्ष्यों की उप-प्रमेय के रूप में होते हैं और शिक्षा राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति का उपकरण भर है राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए राष्ट्र के नागरिकों का व्यक्ति के रूप में विकास (उसका जो कुछ भी अर्थ होता हो) आवश्यक है । अत: शिक्षा ऐसे व्यक्तियों के निर्माण का उपक्रम है जो राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति में योगदान दे सकें । दो, व्यक्ति अपने आप में ही अंतिम रूप से महत्वपूर्ण हैं और शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का विकास है । व्यक्ति के समुचित विकास की स्वाभाविक परिणिति राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति के रूप मे होगी ।

ये दोनों ही स्थापनायें यहां अपने अपने चरम रूपों में जानबूझ कर व्यक्त की गई हैं । क्योंकि इन में फर्क को समझने के लिए यह आवश्यक है । वैसे इन स्थापनाओं के नरम स्वरूप भी उपलब्ध हैं। नरम स्वरूपों में राष्ट्रीय विकास एवं व्यक्ति के विकास दोनों को शिक्षा के उद्देश्यों के रूप में स्वीकार करके किसी एक को रेखांकित किया जाता है ।

दोनों ही स्थापनाओं पर ठीक से विचार करने के लिए बहुत से और प्रश्नों के उत्तर खोजने होंगे । जैसे : राष्ट्रीय लक्ष्य कौन व कैसे निर्धारित करता है ? राष्ट्रीय विकास का अर्थ क्या है ? व्यक्ति का विकास क्या होता है ? राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति का व्यक्ति के विकास से क्या संबंध है ? आदि ।

पर इस आलेख के समापन के पहले एक और बिन्दु पर विचार करना शेष है । आलेख के आरंभ में ही शिक्षा के प्रयोजन संबंधी प्रश्नों के प्रति उदासीनता के तीन संभावित कारणों की तरफ संकेत किया गया था । उनमें से दो पर तो हम सविस्तार विचार कर चुके हैं तीसरा संभावित कारण यह था कि शिक्षा के उद्‌देश्यों पर आम सहमति संभव नही है । अत: इनकी विवेचना पर समय लगाना व्यर्थ है । यह बात ठीक हो सकती है कि शिक्षा के उद्देश्यों पर आम सहमति न हो सके । पर इस के बाबजूद उन पर विचार करना आवश्यक है । इस आवश्यकता के एक कारण की तरफ तो कई बार इंगित किया जा चुका है । वह यह कि मानवीय कर्म के रूप में शिक्षा के उद्देश्य तो होते ही हैं । उन्हें स्पष्ट व्यक्त न करना केवल उनकी तार्किक विवेचना से बचने का तरीका भर है । अत: बेहतर होगा कि हम उन पर गंभीरता से विचार करें और सहमतियों एवं असहमतियों को कारण सहित चिन्हित कर लें । यही लोकतंत्र में कार्य करने का तरीका है। ◆